कला-समाधिः

रचयिता

रेवाप्रसाद-द्विवेदी

सनातनः

कला-समाधिः

रचयिता
रेवाप्रसाद-द्विवेदी
सनातनः

अनुवाद तथा संपादन
डॉ० सदाशिवकुमार द्विवेदी
संस्कृतप्राध्यापक, अ० मु० विश्वविद्यालय,
अलीगढ़

प्रकाशक
कालिदाससंस्थान, वाराणसी
१९९६

कलासमाधिः : मौलिक सौन्दर्यशास्त्र
KALĀSAMĀDHI : 42 Verses on Artexperience.

© लेखक का

मूल्य : रु० ३०.००
$ Doller—2.00

प्रकाशक : Publisher
सदाशिवकुमार द्विवेदी
मानद सचिव, कालिदाससंस्थान,
वाराणसी २२१ ००५.

प्रकाशन तिथि : २१ सितंबर १९९६

प्रकाशन संस्थान
कालिदाससंस्थानम्
२८, महामनःपुरी, वाराणसी- ५ (उ० प्र०)
दूरध्वनिः ३१६८८२

आमुखम्

'कलासमाधि' आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी की लघुकाय रचना है । इसमें केवल ४२ कारिकाएँ हैं जिनमें बतलाया गया है कि सभी कलाओं का परिणाम होता है 'चित्त की एकाग्रता, जिसे योगशास्त्र में प्रत्याहार और समाधि कहा जाता है । चित्त भी सामाजिक का ।

प्रस्तुत ग्रन्थ में सौन्दर्य भी परिभाषित है—'सुन्दर वह जो चित्त में समाधि लाए अर्थात् बिखराव को दूर कर एकाग्रता उत्पन्न करे । एकाग्रता में एक कौन ? स्पष्ट ही सामाजिक की आत्मा । निष्कर्ष यह हुआ कि कला सामाजिक के चित्त को आत्म-तत्त्व में डुबा दिया करती है। यह सामर्थ्य ही है कलागत सौन्दर्य जिससे उसमें स्पृहणीयता आती है । महिमभट्ट ने सौदर्य को ही रस माना है जिसे वामन ने काव्य की आत्मा ठहराया है । प्रस्तुत ग्रन्थ में नाट्य, नृत्य, गीत में आन्तरिक सूत्र रस को माना गया है ।

एक दशक पूर्व निर्मित इस ग्रन्थ को कालिदाससंस्थान (अकादमी) प्रकाशित कर गौरव का अनुभव कर रहा है ।

एतदर्थ हमारे बड़े भाई डॉ० सर्वज्ञकुमार जी द्विवेदी तथा पूज्य माता जी श्रीमती द्रुपदकुमारी जी द्विवेदी को शतशः धन्यवाद ।

दि० २१ सितंबर, १९९६
वाराणसी

सदाशिव कुमार द्विवेदी
मानद सचिव
कालिदाससंस्थान, वाराणसी।

कला-समाधिः

चतुर्थ उन्मेषः

नट - नर्त्तक - गायन- प्रयोगेष्वभिरूपेष्वभिरूपताप्रसूर्या ।
ननु तत्र कलाकलापि-पत्न्यां भजते किं खलु वासयष्टिभूयम् ।।१।।

'नट नर्त्तक और गायक' जो प्रयोग करते हैं वे सब ही हुआ करते हैं अभिरूप (सुन्दर) और आकर्षक । इन सबमें अभिरूपता को जिससे जन्म मिलता है वह है कलारूपी मयूरी । अब प्रष्टव्य है कि वह तत्त्व कौन है जो उस मयूरी की वासयष्टि अर्थात् कला का आश्रय बनता है ।।१।। वासयष्टि वह शाखा जिसपर मयूर बैठा करता है (मेघदूत-७७)

यदि भावकचेतनैव तस्यै भजते काञ्चन-वासयष्टिभूतिम् ।
भजते ननु कौतुकं पुनर्नश्चितिरस्यापि रहस्यमाजिघृक्षुः ।।२।।

यदि उस (अभिरूपता) के लिए काञ्चन वासयष्टि का स्थान भावक की चेतना को ही मिलता है तो हमारी चिति में पुनः प्रश्न उठता है जिसमें ज्ञातव्य बनता है इसका भी 'रहस्य' ।।२।।

यदिदं नटनं रसाश्रितं तद्, दशधा तच्च कुशीलवेषु सिद्धम् ।
अथ नर्त्तन-गानयोरपीयं रससंपत् प्रतिपद्यते न न ज्ञैः ।।३।।

उक्त कलाओं में से जो नटव्यापार है अर्थात् नाट्य है वह हुआ करता है आश्रय रस का । वह होता है दस प्रकार का । यह है प्रसिद्ध कुशीलवों (नाटक करने वालों) में । इसी प्रकार के होते है नर्त्तन और गान । इन दोनों में भी विज्ञ लोग रससंपदा का अनुभव न करते हों ऐसा नहीं ।।३।। दशरूपककार ने नृत्य में भाव की अनुभूति मानी है, किन्तु भाव भी होता है रसपर्यवसायी ही ।

रस एव ततो नहि क्षमेत विनिगन्तुं नटि-नृत्त-गीति-जातीः ।
यदि तत्र न साह्यमुत्प्रसूते कलना काचिदितः पराऽनुकूला ।।४।।

संसार में, तब केवल रस नहीं कर पाता है अन्तर नाट्य, नृत्य और गीत की जातियों का, यदि उसकी सहायता न करती हो कोई उत्कृष्ट और अनुकूल 'कलना' ।।४।।

अनुकूलनमप्यदो रहस्यं हृदि संधाय समश्नुतेऽस्मितां स्वाम् ।
तदिदं किमिति स्पृशत्यथो नः प्रतिपित्सा प्रतिपर्वदत्तदृष्टीन् ।।५।।

यह जो अनुकूलन है यह भी एक रहस्य है । इसका अनुभव हृदय में होता है । उसी अनुभव में है इस (अनुकूलन) की अस्मिता (वास्तविक सत्ता) । अब हमारी चेतना को छूने लगता है यह प्रश्न कि जो अनुकूलन है यह है क्या, जब हम एक एक अंश पर ध्यान देते हैं ।।५।।

अनु किं ननु कूलमेष कश्चिच्चितिसन्तान उदित्वरो विभाति ।
अथ किं प्रति विप्रतीपभावात् क्रमतेऽसौ प्रतिकूलभूयभूमिः ।।६।।

वह कूल कौन सा हुआ करता है जिसके ऊपर (पक्ष में) उदित दिखाई पड़ता है हमारा यह कोई चितिसन्तान । और, क्या है वह जिसके विपरीत हुआ करता है यह (चितिसन्तान) ।।६।। किम् यह सामान्य में नपुंसक लिङ्ग है ।

अथ का प्रतिकूलताऽऽनुकूल्यं किमिदं तत् प्रतिपत्तुमात्तरंहाः ।
मतिमान् न विराममाश्रयेत यदि नासौ लभते समाधिमार्यम् ।।७।।

अब प्रश्न है प्रतिकूलता और अनुकूलता का कि ये हैं क्या ? इस प्रश्न पर कोई बुद्धिमान् तब तक आरूढ़ रहा आता है, विराम नहीं लेता जब तक उसे सही समाधान नहीं मिल जाता ।।७।।

भरतोऽभिनवोऽथ पण्डितेन्द्रोऽप्यनुभोजोद्भट-वामनादिसूक्ताः ।
दधतेऽत्र समौचितीसमिद्धं न समाधिं, प्रविहाय पन्नगेशम् ।।८।।

इसका उचित समाधान 'भरत, अभिनवगुप्त और भोजराज', उद्भट

तथा वामन आदि की उक्तियों को साथ लिए ये सब के सब प्रस्तुत कर पाए नहीं, महर्षि पतञ्जलि (योगदर्शनकार) को छोड़कर ।।८।।

वदतीह पतञ्जलिः 'सचेतः-करणप्रत्यवहार'-मात्रयाऽस्मिन् ।
क्रियते व्यतिभेद आत्मनीनः सकलानामपि गात्रचेष्टितानाम् ।।९।।

इस प्रश्न पर महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—सभी कलाओं और अंगचेष्टाओं का आन्तरिक भेद, ऐसा भेद जो निर्भर करने योग्य हो 'चित्तसहित इन्द्रियों के प्रत्याहार की मात्रा' से संभव होता है ।।९।।

विषयानभि धावताममीषां करणानां प्रति या चितिं प्रवृत्तिः ।
ननु सा प्रतिपाद्यतेऽभियुक्तैर -परोक्षानुभवात्मनाऽऽत्मभूतेः ।।१०।।

ये जो विषयों की ओर दौड़ रही इन्द्रियाँ हैं इनकी चिति के प्रति जो प्रवृत्ति हुआ करती है अनुभवी उसका विश्लेषण करते और उसे 'आत्मवैभव के अपरोक्ष अनुभव' के रूप में लेते हैं ।।१०।।

कलया तनुभङ्गिमात्तगात्र्या यदि वा कण्ठरुतिप्रकल्पधात्र्या ।
रस-भाव-विभावनातिशीति-प्रतिपत्त्या ऽऽह्रियते तु भावकात्मा ।।११।।

एक तो कला होती है अङ्गभङ्गिमाओं की और दूसरी होती है वह जिससे कण्ठस्वर के प्रकल्प निकलते हैं । दोनों ही हुआ करती हैं अनुभव कराने वाली रस और भावों की सातिशय विभावना का । इसीसे ये हर लिया करती हैं भावक की अन्तरात्मा को ।।११।।

यदिदं हरणं तदेव किञ्चिन्निभृतं हन्त रहस्यमेव बुद्धेः ।
प्रतितिष्ठति यत् समासु नित्यं व्यभिचारेण विना कलास्वमूषु ।।१२।।

यह जो भावक के अन्तःकरण का आहरण है यह भी बुद्धि का एक निभृत (गूढ़) रहस्य है । और यह इन सभी कलाओं में नियमित रूप से प्रतिष्ठित रहता है ।।१२।।

नटने हृदयस्य या पताका-प्रकरीभिः सहितेऽभिनीतिमुग्धे ।
रति-हास-भयादिवृत्ति-भुक्तिः प्रमुखा सा व्यभिचारिसंप्रयोगात् ।।१३।।

नाट्य में होती है, रति हास, भय (जुगुप्सा, करुणा, उत्साह, क्रोध,

विस्मय, शम) आदि के रूप में हृदय की भुक्ति, क्योंकि वह (नाट्य) हुआ करता है मुग्ध और मनोहर पताकाओं और प्रकरियों के अभिनय से । यह (भुक्ति) प्रमुखता को प्राप्त होती है मिलकर सञ्चारी भावों से ।।१३।। पताका है दूर तक चलने वाला अवान्तर कथांश और उसके आधार सुग्रीव आदि पात्र । इसी प्रकार प्रकरी है अवान्तर छोटे छोटे पात्रों का समूह। प्रकर यानी समूह, यथा पुष्पप्रकर (भोज) ।।

अतएव हि नाट्यमाहुरार्याः प्रतिबिम्बं मनुजस्य पूर्णतायाः ।
अत एव च तत्र हि प्रतिष्ठां भजते चित्तविराम ईक्षकाणाम् ।।१४।।

इसी कारण आर्यजाति के मनीषियों ने नाट्य को माना है मनुज की पूर्णता का प्रतिबिम्ब । इसी कारण उसी में प्रेक्षकों के चित्त का विराम प्रतिष्ठित हो पाता है ।।१४।।

व्यभिचारि-समृद्धिमेकमात्रं नटनं हन्त बिभर्त्ति, नृत्यगीते- ।
व्रजतो विलयं सचित्रमूर्त्तिप्रसरे तत्र हि, शेषशेषिभावात् ।।१५।।

एकमात्र नाट्य ही ऐसा प्रयोग है जिसमें व्यभिचारिभावों की समृद्धि संभव हुआ करती है । उसी (नाट्य में) विलय को प्राप्त हो जाते हैं नृत्य, गीत, चित्र और मूर्त्ति शेष (अङ्ग) शेषी (अङ्गी) के रूप में ।।१५।।

व्यभिचारिसमृद्धि-सिद्धितन्त्रं कविता तत्र भवत्यदभ्र-शब्दा ।
न हि सा खलु नर्त्तने न गाने न च चित्रे प्रतिमासु वाऽवभाति ।।१६।।

नाट्य में भी व्यभिचारिसमृद्धि का सिद्धितन्त्र है कविता, क्योंकि उसमें रहती है शब्दशक्ति, जो न मिलती नृत्य में, न गीत में, न चित्र में और न मूर्त्ति में ।।१६।।

नटनं कविताकलां विहाय ध्वनिरम्यां ननु नर्त्तनं हि नान्यत् ।
अपि गीतमनीदृशं न, कण्ठ-श्रुति-विस्फार-मयं हि नर्त्तनं तत् ।।१७।।

ध्वनियों से रम्य कविताकला को छोड़कर नाट्य केवल नृत्य ही ठहरता है और कुछ नहीं । गीत भी ऐसा ही हुआ करता है, क्योंकि वह (गीत) भी कण्ठश्रुतियों का विस्फार-मय नर्त्तन ही है ।।१७।।

नृतिजन्यतनू च नृत्त-नृत्ये तनुसञ्चालनमात्र-सिद्ध-गात्रे ।
करणानि निवर्त्त्य हन्त बाह्याद् विषयाब्धेश्चरितार्थतां भजेते ।।१८।।

नृत्त और नृत्य बनते हैं 'नृति' - मात्र से, जिनका स्वरूप बनता है तनुसञ्चालन मात्र से । इनकी चरितार्थता है इन्द्रियों को बाहरी विषय-समुद्र से निवृत करने में ।।१८।।

अनुकार्यमिह द्वये विभेदं जनयत्यस्ति न तद्धि नृत्तदेहे ।
अत एव शिखण्डिनोऽपि नृत्तं प्रतिमेघागमडम्बरं श्रयन्ते ।।१९।।

इन दोनों (नृत्त और नृत्य) में अन्तर है अनुकार्य का जो 'नृत्त' में नहीं रहता । इसीलिए मयूर भी नृत्त करते हैं जब कभी मेघों की घटा देखते हैं ।।१९।।

अथ यत् खलु नृत्यमत्र योऽर्हां श्रयते नर्त्तनसंविधानगात्रे ।
स हि भावरसादि-शब्दवाच्यः स्थितिमाप्नोति न नृत्तवर्त्तनीषु ।।२०।।

और जो नृत्य है इसमें अर्हता (योग्यता) लाने वाले तत्त्व को 'भाव रस' आदि शब्दों से पुकारा जाता है । वह नृत्त में स्थान नहीं पाता ।।२०।। नृत्य-शब्द में अर्हार्थक क्यप् (ऋदुपधाच्चाक्लृपिचृतेः ३.१.११० पा० सू०) ।।

अथवा वपुषश्चितिं प्रयान्ती शिवयोः स्पन्दकलैव काचिदेषा ।
नटनं चरमं विधाय नृत्तं प्रथमं च प्रतिभाति नृत्यभावात् ।।२१।।

अथवा शिव और शिवा की स्थूल शरीर से चैतन्य की दिशा में प्रस्थित यह जो कोई स्पन्दकला है यही नृत्यरूप से प्रकाशित होती रहती है । इसमें नटन अन्तिम और नृत्त हुआ करता है प्रथम ।।२१।। 'नटनं प्रथमं विधाय नृत्यं/नृत्तं चरमं' पाठ भी बनाया जा सकता है, क्योंकि अङ्गों की हलचल नृत्य में सबसे अधिक हुआ करती है और नाट्य में सबसे कम, फलतः नाट्य का मुख्य आधार नटकी मनःशान्ति या शान्तरस बनता है और नृत्य का वीर ।।

श्रुति-मूर्च्छन-मार्ज्जनादिजन्मा सलयस्तालमयश्च यः स्वरात्मा ।
ध्वनि-सन्तति-सन्निवेशयोगः स च नो नान्तरसंहृतिं प्रसूते ।।२२।।

स्वर के रूप में जो एक, लय और ताल से युक्त ध्वनिसन्तति निष्पन्न होती है श्रुति मूर्च्छना तथा मार्ज्जना आदि से उसका सन्निवेशयोग भी अन्तरतम को एकाग्र नहीं करता ऐसा नहीं ।।२२।।

अयमस्य कलात्रयस्य वंशः प्रथते यत्र समन्वयः पटीयान् ।
अयमेव हि चित्समाधियोगप्रभवः कोऽपि रसाऽद्वयाभियोगः ।।२३।।

तीनों कलाओं का वंश यही है । इसमें बढ़ता जाता है सूक्ष्मतर समन्वय । इसी को कहा जाता है चित्समाधियोग से उत्पन्न रसाद्व-याभियोग ।।२३।।

अमुनैव समाधिना शिशूनां चपले चेष्टितकेऽस्ति सुन्दरत्वम् ।
अमुनैव विना श्मशानशाखोटक-नीडं प्रजिहासति द्विजेन्द्रः ।।२४।।

इसी समाधि के कारण शिशुओं की चपल चेष्टाओं में सुन्दरता रहती है और इसके अभाव में कोई उत्तम द्विज (पक्षी और वेद पाठी) श्मशान के शाखोटक को छोड़ देना चाहता है ।।२४।। कुमारसंभव ५.७३ निवार्यतामालि० इत्यादि पद्य । शाखोटक के लिए द्रष्टव्य 'कस्त्वं भोः कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकं' इत्यादि पद्य (काव्यप्रकाश उ० १० अप्रस्तुत-प्रशंसा) ।

अमुनैव विना श्मशानशूलात् कवितोद्वेगमुपैति कालिदासे ।
अमुमेव च संप्रपद्य शम्भुर्गिरिपुत्रीं प्रति दाशतामुपैति ।।२५।।

कालिदास में देखा गया कि कविता उद्वविग्न हुई । क्यों ? इसीलिए कि उसमें यह विशेषता (रसाद्वयाभियोग) नहीं थी । इसीलिए वह श्मशान शूल था । और जब उसमें यह विशेषता आ गई तो शम्भु गिरिराजकिशोरी के प्रति स्वयमेव दाशभाव को प्राप्त हो गए ।।२५।। द्र० कुमारसंभव सर्ग-५ श्लोक ८४ 'इतो गमिष्या०' तथा ८५-८६ ।

प्रियताऽत्र शुकी समाधिनाम्नि प्रतिबद्धापि हिरण्यपञ्जरे स्वे ।
परितः प्रभिनत्ति रम्यरम्यानभिरूपान् सुभगान् प्रियाँश्च भावान् ।।२६।।

यहाँ समाधिनामक अपने हिरण्यपञ्जर में शुकी बनती है प्रियता । वह इसमें रहती तो है बँधी परन्तु करती रहती है भोग रम्य से रम्य और सुन्दर से सुन्दर प्रिय भावों (पदार्थों) का ।।२६।।

प्रियतां प्रविहाय लोकचित्तं न समाधापयितुं कलाः क्षमन्ते ।
प्रियता च समाधियोगजन्मा करणप्रत्यवहारजैव नान्या ।।२७।।

कलाएँ लोकचित्त का समाधान कर नहीं पातीं प्रियता को छोड़कर। यह प्रियता उत्पन्न होती है समाधियोग से । अतः वह करणप्रत्याहार से ही उत्पन्न हुआ करती है, अन्य से नहीं ।।२७।।

कविना नटनेन नर्त्तकेन यदिवा गायनकेन शिल्पयोगात् ।
वचनाभिनयाङ्गहार-रागैः स समाधिर्हि निधीयते कलाभिः ।।२८।।

कवि हो, या नट, या नर्त्तक या गायक ही । ये सभी कलाओं के द्वारा समाधि का ही आधान करते हैं, वाणी, अभिनय, अङ्गहार और रागों को माध्यम बनाकर ।।२८।। वाणी काव्य में, अभिनय नाट्य में, अङ्गहार नृत्य में और राग संगीत में समाधि का माध्यम बनता है ।

अनुयोगितया समाधिमात्रं नयवर्त्माभियुयुक्षवो नयन्ते ।
सकलासु कलासु शिल्पनिष्ठ-प्रतियोगित्वशुभासु निर्विशेषम् ।।२९।।

शिल्पों में रहती है प्रतियोगिता, जिसकी अनुयोगिता रहा करती है केवल समाधि में ऐसा मानना उन विद्वानों का है जिनका मार्ग है न्याय। यह व्यवस्था सभी कलाओं में एक सी रहती है ।।२९।।

अयमेव समाधिरासु सर्वास्वनुकूल-प्रतिकूलभावभूमिः ।
अयमेव च भिन्नता-विचित्रास्वविचित्रैक्यगुणाभिधोऽस्ति सेतुः ।।३०।।

इन सभी कलाओं में 'अनुकूलता और प्रतिकूलता' का नियामक है यह समाधि ही । और यह समाधि ही है भिन्नता और विविधताओं के बीच 'एकरूपता'—नामक वह गुण भी है जो सेतु बनता है ।।३०।।

इयमेव हि संगतिः समासामपि नाट्यादिषु दृश्यते कलानाम् ।
इयमेव च कापि योगसिद्धिर्यमिनां नृत्यविदां स-सत्कवीनाम् ।।३१।।

नाट्य आदि के प्रयोगों में दिखाई देती है संगति सभी कलाओं की। वह इसी समाधि-तत्त्व को लेकर । यही है योगसिद्धि जो मिलती है यमों (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) से समृद्ध योगियों, नृत्यवेत्ताओं और उत्तम कवियों में ।।३१।। नाट्य, नृत्य, संगीत और काव्य के जनक भी हैं यमी ही ।

कविना नटनेन नर्त्तकेन स्वर-विद्या-कृतिना च गायनेन ।
उपधाय समाधियोगरूपं करण-प्रत्यवहारमाप्यते स्वम् ।।३२।।

कवि हो या नाट्यकार, नृत्यकार हो या स्वर-विद्या (संगीत) में कुशल गायक, ये सब आत्मलाभ कर पाते हैं केवल समाधि यानी करणों (इन्द्रियों) के प्रत्याहार (अन्तर्मुखी भाव) रूपी 'योग' का आधार लेकर ।।३२।।

अयि चित्सुभगे!ऽभिमान-भूमिस्त्वयि नान्या स्वसमाहृतिं विहाय ।
कलयाऽपि ततो हि निर्विकारा प्रमितिः काचन धीयते कलात्वे ।।३३।।

अयि ! चिति, अयि सुभगे ! तुझे जिसका अभिमान है वह अन्य कुछ नहीं है एक मात्र 'स्व-समाहार' को छोड़ (यही समाहार है योग का प्रत्याहार) । कला भी उसी से स्वयं (कला) में कलात्व की निर्दोष वास्तविकता का आधान कर पाती है ।।३३।।

अयि सुन्दरते ! त्वमुर्वशी नश्चितिधाराप्रतिसंक्रमेषु सिद्धा ।
मनुजस्त्वयि रज्यति द्विनेत्रस्त्वमथो योजयसे तमायुषाऽऽर्द्रा ।।३४।।

अयि सुन्दरते ! तू तो हमारी उर्वशी है चितिधारा के प्रत्याहार में। दो नेत्रों का मनुष्य तुझ पर अनुरक्त हो जाया करता है और तू भी उसे आयु (उर्वशी का पुत्र तथा आयुष्य) से मिलाती रहती है आर्द्र होकर ।।३४।।

चतुरः स चतुर्मुखोऽपि सर्गं विसरीसर्ष्टि समाधिमात्रकुक्षौ ।
वृगलद्वय-सामितां समाधिः खलु पूर्णत्वमुपेयुषीं विधत्ते ।।३५।।

वह जो चार मुखों वाला चतुर ब्रह्मा है वह भी केवल समाधि की ही कुक्षि में सृष्टि को उत्पन्न करता है । दो अर्ध-भागों के अधूरेपन को यह समाधि ही पूरा करती है ।।३५।।

यमिनां नियमाऽऽसनाऽसु-रोधैः करणप्रत्यवहारभूमिकातः ।
चरमः प्रतिपद्यते समाधिर्ननु यत् सापि कलैव कालजेत्री ।।३६।।

योगविद्या के अभ्यासी 'यम'—शाली साधक 'नियम' (शौच, संतोष, तपः, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान) आसन और श्वासरोध (प्राणायाम) को साधन बनाते और पहुंच जाया करते हैं समाधि की चरम (अन्तिम) भूमिका तक । (समाधिकी यह स्थिति भी कला ही है । क्यों ? इसलिए कि) यह है काल को जीत लेने वाली ।।३६।। द्रष्टव्य—

कलया सुभगंभविष्णुरार्यः कवितार्थत्वमुपैति काल एव ।
अथ कालविलासतर्पितान्तःकरणा सापि कलैव हन्त काली ।।

अनयोरनुलोमताप्रदिष्टं प्रतिलोमत्वकरालितं च सिद्धैः ।
मिथुनीभवनं महाकवीन्द्र-प्रतिभा-क्रीडनकीचिकीर्ष्यतेऽद्धा ।।

कलना ननु कालमुत्प्रसूते कलनैवातनुते कलां, तदीया-
तनयद्वितयीयमेव रम्या, कवितां कामदुघां कवौ प्रसूते ।।

(शतपत्रम्-ईक्षा-७, ८ तथा ५)

(काल ही हुआ करता है कविता का अर्थ काव्यार्थ, किन्तु वह आर्य उत्कृष्ट हो और कला से सुभग अथवा सुभगंभविष्णु । उधर कला ही बन जाया करती है 'काली' यदि उसका अन्तःकरण तृप्ति को प्राप्त करा दिया जाए काल-विलास के द्वारा ।। इन दोनों (काल और कला) का जो संपिण्डन होता है वही बनता है खिलौना महान् कवियों की प्रतिभा का ।। 'कला और काल दोनों शब्द बनते हैं 'कल' से, जिसका अर्थ है 'कलन, निर्माण, रचना या सृष्टि । इस कलना-रूपी माता की जो ये दो अति रम्य सन्ततियाँ हैं बिम्ब और प्रतिबिम्ब जैसी, वही जन्म देती हैं कवि में काम-दुघा कविता को । इसी

प्रकार संगीतज्ञ में संगीत को, मूर्त्तिकार में मूर्त्ति को, चित्रकार में चित्र को और अभिनय-कर्त्ता नट में नाट्य को) ।

द्रष्टव्यः पातञ्जलयोगदर्शनम् सूत्र ३.३२, भर्तृहरिकृत वाक्यपदीय आदि ।

यदिदं क्रमतोऽक्रमेण वापि स्फुरितं स्पन्दतया शिवेऽवभाति ।
नियतिं च कलां च रागयोगात् सकलास्वासु शिनष्ट्यदः क्रियासु ।।३७।।

महाशिव में जो यह स्फुरण है जिसे स्पन्द कहा जाता है जिसमें क्रम रहता भी है और नहीं भी रहता । यही सभी क्रियाओं में 'राग' (रञ्जकत्व) का आधान करता और उत्पन्न करता है नियति तथा कला नामक दो विशेषताओं को ।।३७।।

नियति, राग, कला के लिए द्रष्टव्य भावप्रकाशन का रसप्रकरण ।

यदिदं शिवशक्ति-शक्तिपात-क्रम-सङ्गाक्रम-साम्मनस्य-सिद्धम् ।
'रसना'-कटिरेचकं कलानां सकलानां तदिदं हि सामरस्यम् ।।३८।।

शिव और शक्ति को जो शक्तिपात उसमें क्रम और अक्रम के साम्मंनस्य से सिद्ध जो रसना का कटिरेचक वही है सभी कलाओं का सामरस्य ।।३८।।

अथ या खलु बन्धुरा विधातुः प्रसरन्ती सृतिवल्लरी विभाति ।
सरसोऽत्र 'रसा'-रसः क्व वाङ्गे प्रसरीसर्त्ति न, कीदृशोऽत्र भेदः ।।३९।।

और, यह जो सृष्टिरूपी लता चहुँ ओर फैली हुई है, फैलती जा रही है और सुन्दर भी है, इस पर ध्यान दीजिए । इसके भीतर रस है। वह रस उसकी जननी धरा से उसे मिला है, क्योंकि वह भी रसपूर्ण है और इसीलिए उसकी एक संज्ञा रसा भी है । इस रसा का जो यह रस है इसमें भी सरसता है । और यह रस किस अंग में नहीं फैल रहा ? सभी में फैल ही रहा है । तब इसमें भेद कैसा ? सभी-रस ही हैं ।।३९।।

र: करश्चन

द्वयतावनिता-स्तनोच्छ्रये यस्त्रसरस्ते खलु मौक्तिकश्चकास्ति ।
त्रिगुणीममुमुल्लिलासयाढ्यां प्रतिपन्नाः क्व नु भेदमुल्लिखेयुः ।।४०।।

द्वयतारूपी वनिता के खूब उठे आँचलों के ऊपर जो चरमरा रहा है मोतियों का हार, यह क्या है ? यह है त्रिगुणी (सत्त्व, रजस्, तमस्)। भरी हुई है इसमें उल्लास की समीहा । इसी में हैं सब डूबे । अब इन्हें कैसे दिखाई दे भेद ! ।।४०।। ~~द्वयतायुग्मे को स्तनोच्छ्रय का भी विशेषण माना जा सकता है~~। स्तनयुग्म है प्रतीक द्वैत का, इसमें जो हार है वह है सूत्र साम्मनस्य का ।

प्रकृतिः पुरुषाय यन्नटीत्वं प्रपिपद्याऽनिशमेव चङ्क्रमीति ।
क्रमणेऽवयवा भवेयुरस्मिन् बहवः किन्तु न नैषु सेव्य एकः ।।४१।।

प्रकृति को देखो । यह नटी बनकर निरन्तर ही, सदा ही, घूमती ही रहती है । इसके इस घूमने में कितने ही हो सकते हैं अवयव, किन्तु इनका जो सेव्य है वह तो एक ही हुआ करता है ।।४१।।

भरतादिभिरार्षनेत्रपीताऽखिलविद्योपनिषद्भिरप्यणिष्ठा ।
न हि न प्रविभाविता यतीनां सृतिरेषा रसमात्मतां नयद्भिः ।।४२।।

भरत आदि महामुनियों ने अपने आर्ष नेत्र से पी रखा था सभी उपनिषदों (उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित सभी रहस्यों) को । उन्होंने यतियों का जो यह अत्यन्त सूक्ष्म मार्ग है इसे नहीं पँहचाना था ऐसा नहीं, क्योंकि इन सबने स्वीकार किया है कि 'रस ही है आत्मा', दोनों के लिए सृष्टि के लिए भी और कलाओं के लिए भी ।।४२।।

सेयं रेवाप्रसादस्य काश्यपस्य द्विवेदिनः ।
कलासंचेतना शश्वत् प्रीणयेदादिदम्पती ।।४३।।

कश्यप-गोत्र में उत्पन्न अतएव काश्यप द्विवेदी रेवाप्रसाद की यह जो कलासंचेतना है इससे जगत् के माता-पिता भगवान् शिव भगवती पार्वती को हो प्रीति ।।४३।।

सनातनमहाकवेस्तदिदमद्भुतं दर्शनं
कलासु नितरां शुभं बत समाधिमासेचयत् ।

धरातल-सुमानुषान्तरिकतोष-संप्रेषणे

भवेद् यदि कृतक्रियं, ननु कृती समो मानुषः ।।४४।।

महाकवि सनातन (रेवाप्रसाद द्विवेदी) का यह दर्शन अद्‌भुत है, क्योंकि यह कलाओं में समाधि की अत्यन्त शुभ सृष्टि देख रहा है। पृथिवीलोक के (सभी संसार के) कलामर्मज्ञों को यह आन्तरिक तोष दे सका तो पूरी मानवता को मान लिया जाना चाहिए कृतकृत्य ।।४४।।

।। ॐ तत् सत् ।।

अनुक्रमणी

अतएव	१४	नटने हृद	१३
अथ का	७	नृतिजन्य	१८
अथ यात्	२०	प्रकृतिः	४१
अथवा वपु	२१	प्रियताऽत्र	२६
अनुकार्य	१९	प्रियतां प्र	२७
अनु किं	६	भरतादि	४२
अनुकूलन	५	भरतोऽभि	८
अनुयोगि	२९	यदिदं क्र	३७
अमुनैव विना	२५	यदिदं नट	३
अमुनैव स	२४	यदिदं शिव	३८
अयमस्य	२३	यदिदं हर	१२
अयमेव समा	३०	यदि भा	२
अयि चि	३३	यमिनां	३६
इयमेव	३४	रस एव	४
इयमेव	३१	वदतीह	९
कलया तनु	११	विषया	१०
कविना	२८,३२	व्यभिचा	१५,१६
चतुरः स	३५	श्रुतिमूर्च्छन	२२
द्रवता	४०	सनातन	४४
नटनर्तक	१	सेयं रेवा	४३
नटनं	१७		